Gyanshauryam, International Scientific Refereed Research Journal
© 2022 GISRRJ | Volume 5 | Issue 6 | ISSN : 2582-0095

अभिनवगुप्त और कबीर के दर्शन में तुलनात्मक भक्ति–विमर्श

रवीन्द्र कुमार पंथ
शोधच्छात्र, संस्कृत–विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, एवं सहा. प्राध्यापक (संस्कृत) पं. जे.एल. एन. महाविद्यालय बांदा

Article Info
Volume 5, Issue 6
Page Number : 89-98

Publication Issue :
November-December-2022

Article History
Accepted : 01 Dec 2022
Published : 20 Dec 2022

शोधसारांश– काश्मीर शैवदर्शन और कबीर दर्शन में भक्ति की अद्वैतता स्पष्ट रूप में दृष्टिगोचर होती है। अभिनवगुप्त ने भक्ति की जिस धारा का कथन किया वैसा ही कबीर भी करते दृष्टिगोचर होते हैं। शैवदर्शन भक्ति तत्त्व को भी दार्शनिक दृष्टि देनें में सफल है यद्यपि यह स्वीकारा गया है कि भक्ति एक संवेगात्म अनुभूति है, दार्शनिक नही, तथापि यह दार्शनिक लक्ष्यों को स्वीकार कर ही प्रवृत्त होती है। इसलिए इसे अंशतः दार्शनिक भी कहा जा सकता है। कबीर दर्शन में तो भक्ति ही ज्ञान व योग से समन्वित होने के कारण दार्शनिक ही है। इसलिए कबीर भी भक्ति का प्रतिपादन दोनों ही रूप में करते हैं– संवेगात्मक अथवा रागात्मक अनुभूति और दार्शनिक अनुभूति। अतः यह कहा जा सकता है भक्ति विषयक विवेचन में कबीर को अभिनवगुप्त के निकट पाया जाता है जो भारतीय परंपरा में ज्ञान की क्रमबद्धता को विवेचित करता है।

मुख्य शब्द–अभिनवगुप्त, कबीर, दर्शन, भक्ति,शैवदर्शन, अनुभति,भारतीय।

भक्ति का स्वरूप – 'भज्' धातु से क्तिन् प्रत्यय से भक्ति पद निष्पन्न होता है। 'भज्' धातु पूजा अथवा सेवा के अर्थ में प्रयुक्त होती है। विभिन्न कोषों में भक्ति शब्द के अनेक अर्थों को बताया गया है। कुछ कोष भक्ति शब्द की व्याख्या सेवा, अराधना, अनुरागविशेष, तदेकताप्रधानचित्तवृत्ति आदि अर्थों में करते हैं।[1] भज् धातु यहां विभेदात्मक अर्थ को प्रस्तुत करता है। इसी कारण भक्ति की धारणा में द्वैत का संस्पर्श प्राप्त होता है। इस धारणा में सदैव उपासक, उपास्य और उपासना का संगम होता है। जिसमें उपासक भक्त होता है, उपास्य भगवान आदि परमसत्ता से सम्बन्धित तत्त्व होता है, और उपासना भक्ति की धारणा में क्रिया है जिसके द्वारा भक्त भगवान को प्रसन्न करता है। प्रमाता के स्तर पर भक्ति रागात्मक अभिप्राय का बोधन करती है तथा प्रमेयगत स्तर यह भेदात्मक स्तर के अभिप्राय को ग्रहण करती है। भारतीय भक्ति संप्रदाय के कुछ भक्तों ने इसका अभिप्राय स्वरूपानुसंधान भी स्वीकार किया है। सर्वप्रथम श्वेताश्वतरोपनिषद में भक्ति शब्द का प्रयोग किया गया है।[2] उपनिषदों से पूर्व भक्ति का उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। यद्यपि वेदों में विभिन्न मंत्रों के माध्यम से ऋषियों की भावना देवों के प्रति स्पष्ट दिखाई देती है किन्तु उसे भक्ति के रूप में स्पष्ट कहा नहीं गया है। अतः उपनिषदों में ही भक्ति का प्रथम स्पन्दन प्राप्त होता है।

भारतीय दर्शन में ज्ञान, कर्म (योग) और भक्ति तीनों को स्वीकार किया गया है। प्रायः सभी दर्शनों का प्रमुख साध्य मोक्ष, मुक्ति, निर्वाण, स्वस्वरूपावस्थापन आदि हैं और इस साध्य की प्राप्ति के साधन के रूप

Copyright: © the author(s), publisher and licensee Technoscience Academy. This is an open-access article distributed under the terms of the Creative Commons Attribution Non-Commercial License, which permits unrestricted non-commercial use, distribution, and reproduction in any medium, provided the original work is properly cited

में ज्ञान, कर्म और भक्ति को स्वीकारा गया है। इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु बुद्धि जो पथ प्रशस्त करती है वह ज्ञानमार्ग है। इस मार्ग में पुष्ट तर्कों के माध्यम से उस परमसत्ता के स्वरूप को जानकर लक्ष्य प्राप्ति का प्रयत्न किया जाता है किन्तु यह कोरा ज्ञान साधक को लक्ष्य का अन्वेषण करना तो सिखाता है पर आस्वादन नहीं करा पाता। इस कारण से ज्ञान की पूर्णता श्रद्धा में मानी जाती है। श्रद्धा के मूल में भक्ति का स्थान होता है।[3] बुद्धि को अन्ततः श्रद्धा का ही सहारा लेना पड़ता है। इसी से समानता रखते हुए योगमार्ग को भी आस्था अथवा श्रद्धा को ही मूल में मानना पड़ता है।[4] इस प्रकार भक्ति मार्ग ज्ञान मार्ग का पूरक होता है। कुछ दर्शन केवल ज्ञान को ही मोक्ष का प्रधान साधन मानते हैं तो कुछ कर्म को या भक्ति को मानते हैं और कुछ तीनों के समावेश के साथ मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करते हैं। भारतीय दर्शन के प्रायः सभी सम्प्रदाय इस बात को स्वीकार करते हैं कि भक्ति उस परमसत्ता तक पहुंचने का सुगम उपाय है। केवल चार्वाक दर्शन इस बात का समर्थन नही करता है। विविध ग्रंथ भक्ति की अवधारणा को विविध प्रकार से परिभाषित करते हैं–

1. शाण्डिल्यसूत्र और नारदभक्तिसूत्र के अनुसार ईश्वर के प्रति परम प्रेम ही भक्ति है।[5]
2. पुरुषोत्तम में निष्काम व निरन्तर प्रेम ही भक्ति है[6], ऐसा भागवतकार का कहना है।
3. महाभारत के अनुसार प्रेम पूर्वक पूजा आदि नियमों का पालन ही भक्ति कहलाती है।[7]
4. योगसूत्रानुसार सुखानुशयी राग ही भक्ति है।[8]
5. गीता के अनुसार समस्त गुणों के स्रोत परमात्मा के प्रति सानुराग ध्यान को ही भक्ति कहा गया है।
6. शब्दकल्पद्रुम में ईश्वर के प्रति परम अनुराग को ही भक्ति कहा गया है।[9]
7. रामानुजाचार्य के गीताभाष्य में कहा गया है कि परमात्मा के स्वरूप व गुणों का तैलधारावत् सतत चिन्तन ही भक्ति होती है।[10]
8. मधूसूदन सरस्वती ऐसी वृत्ति को भक्ति कहते हैं जो सर्वेश्वर भगवान के विषय में निरन्तर रत हो।[11]

इस प्रकार आशय यह है कि भक्ति ईश्वर विषयक अनन्य अनुराग है, जिसके हृदय में स्थिति हो जाने पर सारे कर्म शून्य हो जाते है। भक्ति को मुख्यतः निष्काम ही माना जाता है। गीता में स्पष्टतः चार कोटि के भक्तों की चर्चा की गयी है– आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी।[12] इन चारों में से ज्ञानी भक्त श्रेष्ठ माना गया है क्योंकि वह परमेश्वर का यथार्थ रूप जानकर और कुछ प्राप्त करने की इच्छा न कर निष्काम भाव से भक्ति करता है। इसलिए मुख्य रूप से भक्ति का सत्य रूप तो निष्काम ही है।

काश्मीर शैवदर्शन में भक्ति का स्वरूप– काश्मीर शैवदर्शन एक अद्वैती दर्शन है जो सम्पूर्ण सृष्टि के मूल में मात्र एक परमशिव को ही स्वीकार करता है। इस दर्शन परमतत्त्व एक पूर्ण तत्त्व है जिसके सारे उपभेद अंश रूप से समाहृत हैं। इस प्रकार इस दर्शन में वास्तविक रूप से ऐक्य है और भेद आभास रूप में विद्यमान है। भक्ति की अवधारणा में ऐक्य और भेद दोनों की आवश्यकता है। सामान्य भक्ति की अवधारणा में भेद से अभेद की ओर भक्त प्रवृत्त होता है। किन्तु काश्मीर शैवदर्शन में विपरीत ही भक्ति का स्वरूप दृष्टिगोचर होता है– अभेद से भेद। वस्तुतः सृष्टि के आदि में केवल अभेद रूप में परमशिव की सत्ता स्वीकारी जाती है तथा अपने ही स्वातन्त्रय के बल से अभेद से भेद की ओर सृष्टि का विकास होता है। इस सृष्टि में वास्तविक रूप से तो सब शिव ही हैं जो अभेद की स्थिति है किन्तु आभासी सृष्टि भेद का भान कराती है। इसलिए भक्ति की अवधारणा का प्रारम्भ अभेद में भेद की स्थिति से माना गया है।

अभिनवगुप्त शरीर, मन व वचन से तदैकात्म्य प्राप्ति की भावना से पूर्ण प्रह्वीभाव ही भक्ति मार्ग का सार मानते हैं। प्रह्वता मायाप्रमाता के अभिमान की समाप्ति के फलस्वरूप परमेश्वर के स्वरूप के उत्कर्ष के

दर्शन से सिद्ध होती है। जब मायाप्रमातृगत अभिमान का अन्त होता है तभी भक्ति का भाव प्रमाता के अन्तर्गत प्रकट होता है। यह प्रह्वता का उदय भी तब ही होता है।[13] यह प्रह्वता अपने से उत्कृष्ट के प्रति ही औचित्यपूर्ण है, न समान के प्रति और नही हीन के प्रति। यह वाकतत्त्व और मानस संवेदन का विषय ही होता है, इसलिए भक्त परमेश्वर के प्रति इसी मनोवागात्मक परामर्श को अर्पित करता हुआ सब कुछ उसे समर्पित कर देता है।[14] इस प्रकार ही भक्ति का उदय हो जाता है। जिन भक्तों ने परमेश्वर में एकीभाव प्राप्त कर लिया है वे इस भक्ति के माध्यम से ही मोक्ष को प्राप्त कर लेते है तथा उस भक्तिरस अथवा परमेश्वर के भाव का आस्वादन हेतु निरन्तरता बनाए रखते हैं। ऐसे प्रमाता जिन्होंने इस आस्वाद की प्राप्ति नही की, उनकी श्रद्धा ही भक्ति का उदय कराने में सक्षम होती है।[15] यद्यपि महेश्वर दास्यभाव की प्राप्ति के अनेक साधनों का वर्णन किया गया है जैसे आर्ति, जिज्ञासा, फलौत्सुक्य आदि किन्तु आर्ति में दुःखनिवारण की इच्छा, फलौत्सुक्य में विभिन्न फलों की चाह और जिज्ञासा भी निष्काम नहीं होती है। किन्तु यहां समावेशात्मिका भक्ति ही निष्काम होती है और यह ही सर्वश्रेष्ठ है।[16]

अभिनवगुप्त की दृष्टि में उपासना के दो अंग हैं– 1. विशुद्ध भक्तिपरक 2. साधनापरक विशुद्ध भक्तिपरक उपासना पराभक्ति के अंतर्गत आती है और साधनापरक उपासना पराभक्ति के अंतर्गत आती है। अपराभक्ति में मंत्र, मुद्रा, योग आदि रूप से सम्पादित साधना के साथ– साथ स्वात्मपूजन भी होता है। स्वात्मपूजन ही अपरा साधना की परिपक्वावस्था है।

अभिनवगुप्त वैष्णव सम्प्रदायों की भक्ति की अवधारणा को स्वीकार नही करते हैं। वैष्णव सम्प्रदायों में भक्ति में द्वैत भाव भक्त और भगवान के मध्य रहता है। यह द्वैत ही अभिनवगुप्त की दृष्टि में माया का क्षेत्र है जो कर्मसापेक्ष विष्णु आदि की उपासना से शिवत्व भाव की प्राप्ति नहीं करा सकती है। इसलिए वैष्णव भक्ति से अद्वैत भक्ति की स्वीकरण ही अभिनवगुप्त के भक्ति–विश्लेषण की महत्वपूर्ण विशेषता है।

काश्मीर शैवदर्शन में दार्शनिक गंथों के साथ–साथ भक्तिपरक ग्रंथों अथवा स्तोत्रों का प्रणयन होता रहा है। आचार्य अभिनवगुप्त भी अपने बृहद ग्रंथ तंत्रालोक को शिव की स्तुति के रूप में प्रदर्शित करते हैं।[17] आचार्य उत्पल विरचित 'शिवस्तोत्रावली' और भट्टनारायणकृत 'स्तवचिन्तामणि' ये दोनों ग्रंथ भी भक्ति की अवधारणा को पुष्ट करते है तथा भक्ति के स्वरूप को स्पष्ट करते है। शिवस्तोत्रावली में अद्वैत भक्ति का परम प्राप्तव्य माहेश्वर का दास्य भाव ही है।[18] इसलिए समावेशात्मिका पराभक्ति ही सर्वत्र श्रेष्ठ है ऐसी स्थापना आचार्य उत्पल करते हैं।[19] शिवस्तोत्रावली में आचार्य उत्पल ने भक्ति की परिभाषा देते हुए उसका महत्व और भक्ति के फलों का विस्तृत विवेचन किया है। उनके अनुसार भक्ति वह आनन्दरस है जिसका एक बार आस्वादन करने वाला हमेशा उसके आस्वाद में मग्न रहता है।[20] भक्ति को प्राप्त भक्त सर्वत्र ही शिवत्व के दर्शन करता है। इस महाविद्या की प्राप्ति से विद्या तथा अविद्या दोनों के यथार्थ तत्त्व का ज्ञान प्राप्त हो जाता है।[21] इस भक्ति का इतना अधिक महत्व प्रदान करते हुए यहां तक कहा गया है कि शास्त्रों में वर्णित 'शिवो भूत्वा यजेत' की जगह 'भक्तो भूत्वा यजेत' कहना चाहिए क्योंकि भक्त ही उस अद्वय शिवतत्त्व के यथार्थ रूप को जान पाते हैं।

भक्ति को साध्य के रूप व्याख्यायित किया गया है। अन्य मार्गों से प्राप्त शिवत्व किसी निश्चित समाधि की अवस्था अथवा किसी स्थान विशेष पर संभव है किन्तु भक्त को सभी अवस्थाओं में वह स्थिति समान रूप से प्राप्त होती है।[22] भक्त को योगियों से भी श्रेष्ठ बताते हुए कहा गया है कि भक्त तो व्युत्थान दशा में भी समाधिस्थ होते हैं।[23] इस प्रकार इस माया रहित शिवमार्ग में न तप, न योग, न अर्चाक्रम का इतना महत्व जितना कि भक्ति का है।[24] बाह्य विषयों के रसास्वादन की भक्त को आवश्यकता ही नहीं है

क्योंकि उसके जिह्वा के अग्रभाव भाव 'शिव' रूप एक शब्द सदैव विद्यमान रहता है जो समस्त विषयगत आनन्द का अलौकिक रसास्वादन करा देता है।[25] अणिमा आदि सिद्धियों से लेकर मोक्ष रूपी सिद्धि तक जो इनके फल की बात कही जाती है वह परिपक्व अवस्था को प्राप्त आपकी भक्ति रूपिणी लता के ही फल है, उनमें इससे तनिक भी अभिन्नता नहीं है।[26] इस प्रकार भक्ति के मार्ग की सहजता और सम्पूर्णता आचार्य उत्पल ने प्रकट की है।

शिवस्तोत्रावली में भक्ति में कातग्ता के साथ–साथ विनय भी है। समर्पण भाव के साथ–साथ आर्त पुकार का भी समावेश भक्ति की अवधारणा में मिलता है। भक्ति की अवधारणा समावेशात्मिका है और इसका उद्देश्य शिवत्व रूप एकात्मभाव की प्राप्ति है। इसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय भक्ति रस के आनन्द की संतृप्ति के महात्म्य का गुणगान करते हुए उस आनन्द की प्राप्ति की विह्वल इच्छा है। भक्ति के महात्म्य प्रदर्शित करते हुए कहा गया है कि शक्तिपात दासत्व तो प्रदान कर देता है किन्तु रुद्रशक्ति के समावेश से जन्य आह्लाद का आभोग भक्ति से ही बनता है।[27] तीनों मलों (आणव, मायीय और कार्म) को समाप्त करने वाले अद्वैत सम्बन्धी शास्त्र और शास्त्रज्ञ ज्ञानी व योगी इस समस्त संसार में हैं किन्तु समावेश का आनन्द उठाने वाले भक्त को ही वास्तव में सुखी कहा गया है।[28] भक्ति से पूर्ण भक्त के लिए कहा गया है कि वह ध्यान जैसी कठिन प्रक्रिया को भी आसानी से पूर्ण कर लेते हैं। शिवत्व की प्राप्ति जो परिमित सिद्धि सम्पन्नों को भी कठिनता से प्राप्त होता है किन्तु भक्ति के धनी भक्तों को ध्यान लगाते ही तत्क्षण उपलब्ध हो जाता है।[29] यही भक्ति का प्रभाव होता है।

इस प्रकार काश्मीर शैवदर्शन में भक्ति की अवधारणा को प्रस्तुत किया गया है। समावेशमयी भक्ति सच्चे अर्थों में शैवदर्शन में ही संभव हो पाती है क्योंकि भेद व अभेद को जिस तरह यहां समरस बताया गया है वैसा अन्यत्र कही नही बताया गया है। इनके अनुसार भक्ति न तो नितान्त भेद में संभव है और न ही नितान्त अभेद में, इसलिए दोनों का समावेशन आवश्यक होता है। इस अवधारणा में आनन्द व शान्तभाव का सामरस्य दृष्टिगोचर होता है। भक्ति को निष्काम, निर्हेतुक व निरतिशय राग के रूप में व्याख्यायित किया गया है। इसमें आनन्द का समावेशन इस प्रकार किया गया है कि भक्ति को एक रस के रूप में प्रतिष्ठा दी गई है। शान्तभाव में निर्वेद की स्थिति का आरम्भ होता है। अन्ततः शिवत्व की प्राप्ति पर आनन्द भाव शान्तभाव में परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार शैवदर्शन की सारी मीमांसा आनन्द और शान्तभाव के मेलन प्रक्रिया को मूल में लेकर चलती हैं। इस भक्ति की अवधारणा का सिद्धि बिना परमतत्त्व के होना संभव नही होती है इसलिए इन सबके मूल में भी परमेश्वर परमतत्त्व होता है जो इस अवधारणा में मुख्य भूमिका अदा करता है।

कबीर दर्शन में भक्ति की अवधारणा– मध्यकालीन संत परंपरा के दार्शनिक दृष्टिकोण के मूल में भक्ति तत्त्व का स्थान है। इस काल सभी संतों को प्रायः भक्त की संज्ञा दी गयी है। कबीर को भी हिन्दी साहित्य के मनीषियों ने भक्त के रूप में पूर्ण प्रतिष्ठा प्रदान की है। उनके सम्बन्ध में नाभादास ने लिखा है कि वे भक्तिविमुख धर्मसाधनाओं को अधर्म स्वीकार करते थे। उन्होंने भक्ति की तुलना में योग, यज्ञ, व्रत, दान आदि सभी को तुच्छ बताया है।[30] भक्ति को ही मूलतत्त्व के रूप में माना गया है जो कबीर को नाथपंथियों से अलग करता है। कबीर निर्गुण भक्ति के समर्थक हैं। यद्यपि निर्गुण भक्ति के प्रवर्तक दक्षिण भारत के संत ज्ञानेश्वर कहे जाते हैं। इनकी ही परंपरा में संत नामदेव, संत तुकाराम आदि हुए हैं। उत्तर भारत में निर्गुण भक्ति के प्रणेता कबीर ही हैं। निर्गुण भक्ति में परमात्मा को निर्गुण ब्रह्म स्वीकार कर और अद्वैतवाद का समर्थन करते हुए भी इस मत में भक्ति–साधना ही परमश्रेष्ठ हैं। यह निष्काम, निर्हेतुक और अनन्य भावमय

होती है। इसमें एक अनन्त ब्रह्म का चिन्तन किया जाता है, यह चिन्तन निष्काम होता है और इससे अभेद एवं अद्वैत की सिद्धि होती है।[31]

तात्त्विक स्वरूप– कबीर की भक्ति का मूलतत्त्व परमतत्त्व के प्रति उत्कट 'राग' है। वे जीवन की सार्थकता परमतत्त्व के प्रति आन्तरिक प्रीति में मानते है। उनके अनुसार जिसके हृदय में प्रेम जागृत नही हुआ है, इस प्रेमरस का आस्वादन नहीं किया और जिसका मन नामजप आदि भक्ति में नही लगा उसका जीवन व्यर्थ ही है।[32] मन, वचन और कर्म सबको संयुजित करके परमेश्वर की भक्ति करने से जीवन–मरण रूपी भव चक्र का नाश हो जाता है ऐसा कबीर मानते हैं।[33] आशय यह है कि समस्त इन्द्रियों और मन के द्वारा परमतत्त्व में तल्लीन होना ही भक्ति है।

कबीर की भक्ति साधना की कई अवस्थाएं हैं। साधना की प्रथमावस्था में कबीर जिज्ञासु भक्त की भांति भावभक्ति के द्वारा राम अथवा हरि के गुणों का वर्णन करते दृष्टिगोचर होते हैं। दूसरी अवस्था निष्काम भक्ति की साधना की है, जिसमें कबीर भावों की निर्मलता के भक्ति की योजना करते दिखाई पड़ते हैं। तीसरी अवस्था में वे प्रेम–लक्षणा–भक्ति के सहारे ब्रह्म का सान्निध्य प्राप्त हेतु भक्ति की बात करते हैं।

भक्ति को परिभाषित करते हुए कबीर कहते हैं कि भक्ति मुक्ति की नसैनी अर्थात सीढ़ी है।[34] कहने का तात्पर्य यह है कि मुक्ति को प्राप्त करने का प्राथमिक एवं आवश्यक पहलु भक्ति ही है। भक्ति के अधिकारी होने के लिए भी कबीर काम, क्रोध, लोभ, मोह, लालच आदि दुर्गुणों को दूर करने के लिए कहते हैं। कामी, क्रोधी आदि गुणों से युक्त व्यक्ति भक्ति का अधिकारी नही हो सकता है।[35] उत्कट राग या प्रेम–केन्द्रित होने के कारण ही कबीर ने अपनी भक्ति को प्रेम भक्ति भी कहा है। उनका कहना है कि सामान्यतः संसार में एक युक्ति से एक ही पदार्थ की प्राप्ति होती है। यदि आप लोग जीवनमुक्त होना चाहते है तो योग की युक्ति करनी चाहिए और यदि भोग चाहते हैं तो भोग के साधनों को सुलभ् करने के लिए दूसरे प्रकार की युक्ति करनी पड़ेगी, किंतु रामनाम की सिद्धि से योग और भोग दोनों पदार्थों की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार चन्द्रमा से टपकने वाली अमृत की बूंदों के हमारे मुख में पड़ने पर अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती है, उसी प्रकार नाम सिद्धि–योग से घटित होने वाली 'प्रेम भगति' हमें अमृत के आस्वाद का अलौकिक आनन्द प्रदान करती है।[36] प्रेम भक्ति में बाह्याचार के लिए कोई स्थान नहीं है, यह तो पूर्णतः मानसिक होती है। कबीर बाह्य आडम्बर को स्वीकार नही करते हैं। उनकी भक्ति में कोई बाह्य सामग्री की भी आवश्यकता नही है। भक्ति के लिए तो आवश्यक है कि मन को बाह्य विषयों से विमुख कर परमतत्त्व की ओर उन्मुख करना। उनके अनुसार मन को मारकर पूर्णतः नियंत्रण कर लेना चाहिए तब ही आत्मा रूपी सुन्दरी ब्रह्म को प्राप्त कर सौभाग्य–सुख का अनुभव करेगी।[37] आशय यह है कि जीव मन पर ही विजय प्राप्त कर प्रेम भक्ति साधना से परमब्रह्म को प्राप्त हो सकेगा अन्यथा नहीं।

कबीर प्रेमभक्ति के साथ–साथ भाव–भक्ति की भी अनिवार्यता बताते हैं। उनके अनुसार यद्यपि ईश्वर हृदय में विद्यमान है किन्तु भाव के अभाव में आभ्यन्तरिक दूरी बनी रहती है।[38] मन की सच्ची भावना ही भक्ति को सारे बाह्याचारों में अलग करके एक आन्तरिक या मानसिक स्वरूप प्रदान करती है। भक्त को विग्रह के अर्चन, वंदन और पादसेवन की आवश्यकता नहीं रह जाती है। कबीर ने भाव की अनिवार्यत को सिद्ध करते हुए कई स्थलों पर अपनी भक्ति को भाव भक्ति भी कहा है। कबीर की यह भाव भक्ति उन्हे एक सच्चे भाव–साधक के रूप में प्रतिष्ठित करती हैं। इस भाव साधना के लिए न तो भौतिक देवालय की आवश्यकता है और न ही देव–विग्रह की। पूजा के सारे उपकरण मानसिक हैं।

कबीर निर्गुण भक्ति के साधक हैं। इस दर्शन में निर्गुण भक्ति को ही स्वीकारा है।[39] निर्गुण भक्ति से आशय निर्गुण ब्रह्म की भक्ति से है। निर्गुण और निराकार उपास्य के प्रति भक्ति असंभव नहीं है क्योंकि यहां निर्गुण से आशय इन्द्रियातीत, अव्यक्त रूप जो भौतिक आकार और लौकिक गुणों से रहित है किन्तु अनन्त, ज्ञानरूप, आनन्दस्वरूप, दिव्य, तेज, सौम्यता, औदार्य, पवित्रता और शान्ति आदि अलौकिक गुणों से युक्त है।[40] भक्तों ने ईश्वर के तीन भाव माने है– 1. गुणातीत, निराकारभाव 2. चिन्मयी शक्तियुक्त सगुण भाव 3. विश्वरूप विराटभाव। इन तीनों भावों को कबीर केवल निराकार निर्गुण भाव में ही स्वीकारते हैं। इस प्रकार कबीरदर्शन में उपास्य अव्यक्त, अचिन्त्य, अविगत और निर्गुण ब्रह्म है। निर्गुण के साथ–साथ भक्ति की निष्कामता को भी स्वीकारा गया है। कबीर सकाम अनुरक्ति को व्यर्थ एवं निष्काम भाव से ब्रह्म में अनुराग रख कर उससे तादात्म्य प्राप्त करना बताते हैं। अपना निजस्वरूप नित्य, मुक्त, शुद्ध, बुद्ध, निष्काम ही है इसलिए निष्काम भाव से ही उससे सम्मिलन किया जा सकता है।[41]

अभिनवगुप्त और कबीर की भक्ति विषयक तुलनात्मक दृष्टि– काश्मीर शिवाद्वयवाद में प्रतिपादित भक्ति अनिवार्यतः समावेशात्मक है इसलिए अद्वैत सिद्धान्त का विरोध नही करती। शिव का शक्तिपात साधक को एकात्मता का अनुभव कराता है और यही उच्च अवस्था को प्राप्त होने पर चिदानन्द का लाभ करा देती है। कबीरदर्शन भक्ति की निर्गुणता पर केन्द्रित है। यह भी अद्वैत के सिद्धान्त का निरन्तर समर्थन करती है। भक्ति की पराकाष्ठा व लक्ष्य मुक्ति अर्थात् स्वस्वरूपावस्थित हो जाना है। अभिनवगुप्त भक्ति की वह स्थिति स्वीकारते हैं जिसमें उपासक और उपास्य में भेद अवास्तविक है तथा अभेद अर्थात ऐक्य यथार्थ है। इसलिए अन्ततः यह अद्वैत की सिद्धि करती है क्योंकि अन्त में अवास्तविक भेद का अन्त हो जाता है तथा अभेद की स्थापना होती है। कबीर भी इसी प्रकार उपास्य और उपासक का भेद नही मानते।[42] उनका मानना है कि ईश्वर सर्वत्र है इसलिए उपास्य और उपासक जैसे भेद अवस्था की स्थिति नही होती है। अज्ञानावस्था ही भेद जनक होती है। भक्ति की पराकाष्ठा में भेद जैसी स्थिति नही होती है।

अभिनवगुप्त द्वैतभक्ति अर्थात भेदबुद्धि प्रधान भक्ति जिसमें उपास्य और उपासक का भेद बना रहता है, को कृत्रिम भक्ति की कोटि में रखते हैं। इस कृत्रिम भक्ति का भी अन्तिम लक्ष्य अकृत्रिम समावेशरूपा परा भक्ति की सिद्धि है। आशय यह है कि भक्ति की द्वैत अवस्था भी अन्ततः अद्वैत की स्थिति में ही स्थित होती है। द्वैत भक्ति में केवल शिवत्व की आकांक्षा की स्थिति होती है और अद्वैत की स्थिति में शिवत्व की प्राप्ति हो जाती है।[43] कबीर की निर्गुण भक्ति साधना की प्रथमावस्था आत्मस्थिति है। इस स्थिति में उपासक और उपास्य में भेद की स्थिति होती है। इस अवस्था में निराकार, निर्गुण ब्रह्म में भी विविध व्यक्त गुणों की कल्पना एवं आरोप करके भाव भक्ति की साधना का विधान किया गया है। द्वितीय अवस्था में भक्त अहेतुकी भक्ति साधना करता है। इस अवस्था में भक्त स्वयं निष्काम भाव से भक्ति को स्वकर्तव्य जान कर निष्काम, निराकार प्रभु की भक्ति में तल्लीन होता है। इस अवस्था की भक्ति के लिए बाह्य साधनों अथवा आडम्बर की आवश्यकता नहीं है। यह विशुद्ध निर्गुण भक्ति है। अन्तिम अवस्था में भक्ति प्रेमभक्ति के रूप में हो जाती है। इस अवस्था में भक्त सार्वभौमिक प्रेम की सिद्धि प्राप्त करके सहजशील की अवस्था को प्राप्त हो जाता है। इस स्थिति में भक्त जो अभी तक उपास्य को स्वयं से भिन्न समझता था वह भिन्न न होकर स्वयं उसमें एवं सकल विश्व में व्याप्त है अथवा उसका अपना ही स्वरूप है, ऐसी अद्वैत की स्थिति को प्राप्त हो जाता है। कबीर दर्शन में भी काश्मीर शैवदर्शन की भांति अन्ततः भक्ति साधना द्वैत भावना को नष्ट कर अद्वैत भावना का स्थापना करती है।[44]

काश्मीर शैवदर्शन और कबीर दर्शन में भक्ति की निष्कामता की स्थापना की गयी है। सकाम भक्ति को निष्फल कहा गया है। अभिनवगुप्त के अनुसार फल की कामना से काम न के अफलार्थिता की वृत्ति से जीवन–यापन करने वाले की परमेश्वर शिव में निरीह भक्ति ही अनुग्रह है और यही शक्तिपात है।[45] तंत्रोलोक में दो प्रकार के भक्तों का वर्णन किया गया है– 1. भोगेच्छु 2. मुमुक्षु। भोगुच्छु को अपवर्ग की प्राप्ति नहीं होती है जबकि मुमुक्षु भक्त साधक अन्ततः शिवत्व को प्राप्त कर लेता है। मुमुक्षु साधक अफलार्थी होता है। भोगेच्छु फलार्थी होता है। उसके कर्म विचित्र और उसका फल भी भिन्न ही होता है।[46] कबीर दर्शन सकाम भक्ति को निष्फल मानता है। सकाम भक्ति सकाम कार्य का साधक तो होता है किन्तु प्रमुख लक्ष्य मुक्ति को देने वाला नही है इसलिए सकाम भक्ति को निष्फल ही माना जाता है।

भक्ति सम्प्रदायों में सामान्यतः एक साकार ईश्वर की कल्पना के बिना संभव नही मानी जाती। इसी कारण काश्मीर शैवदर्शन में परमेश्वर की साकार रूप में भी कल्पना है। वह कल्पना अर्धनारीश्वर रूप में शिवशक्ति के संघट्ट को ही प्रस्तुत करती है। इस स्वरूप में शान्तभाव भी है और लीला का विलास भाव भी। अतः भक्ति के ध्रुवों की स्वीकारता है– शान्तभाव जन्य निर्वेद (दास्यभाव) और माधुर्य भाव। इसमें दर्शन प्रक्रिया में तो दास्यभाव की प्रधानता है किन्तु तंत्र प्रक्रिया में माधुर्य भाव की प्रधानता है। कबीरदर्शन में साकार ईश्वर की कल्पना तो नहीं की गयी है किन्तु साकार रूप में गुरू की ही भक्ति को प्रधानता दी गयी है। गुरू को ही साकार मूर्ति के रूप में स्वीकारा है। भक्त की प्राथमिक अवस्था में गुरू को ही सर्वस्व सौंपकर भक्ति करने को कहा गया है।[47] कबीर भक्ति के माधुर्य रूप से अधिक दास्यभाव पर बल देते नजर आते हैं। उनके अनुसार जो हृदय में दीनता, दासत्व को धारण करता है और साधु–गुरु की संगति व प्रेम भक्ति में तल्लीन रहता है वही दास्यभाव को धारण करता है।[48] आशय यह है कि दास्य भाव के साक्षात सम्बन्ध भक्ति से है। कबीर भक्ति के उस माधुर्य रूप का वर्णन अवश्य करते हैं जहां भक्त को एक दुल्हन के रूप में और परमेश्वर को पीव अर्थात पति के रूप स्वीकारा जाता है अन्यथा भक्ति में दासत्व को ही प्रधान माना गया है। कबीर की निर्गुणोपासना में जो माधुर्य भाव है उसमें लीला पक्ष का अभाव है और ध्यान पक्ष प्रबल है और ध्यान भी निराकार ईश्वर का। अतः पति के रूप का ही मूल में आरोप करना पड़ता है।

अभिनवगुप्त भक्ति को साध्यरूप ही प्रधानता से स्वीकार करते हैं। इसी दृष्टि से उत्पलाचार्य इसे अन्ततः प्रत्यभिज्ञानात्मक मान लेते है। साधनरूप भक्ति की विधा को भी अस्वीकृत नही किया गया है, मात्र उसे अपर कोटि में ही रखा गया है। वस्तुतः बुद्धि जहां पहुंचने के लिए विविध साधन रूप उपायों की कल्पना करती है भावना वहां क्षण भर में पहुंच कर सतत प्रेमपूर्वक चिन्तन से उस अवस्था के आनन्द का प्रतिक्षण आस्वादन करती है। अतः भक्ति समस्त उपायों की पूर्वदशा भी है साथ ही समस्त उपायों का साध्य भी। कबीर दर्शन में भी भक्ति को साध्य के रूप में ही माना गया है इसलिए भक्ति के विविध साधनों की चर्चा की गयी है। कबीर प्रथम साध्य तो भक्ति को ही स्वीकारते है और अन्तिम साध्य मोक्ष को। इसलिए भक्ति भी साध्य ही है।

काश्मीर शैवदर्शन में ज्ञान व भक्ति में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। भक्ति ज्ञान प्राप्ति की अनिवार्य अर्हता भी है व ज्ञान का प्राप्तव्य भी। ज्ञान में बुद्धि द्वारा आत्मतत्त्व के यथार्थ स्वरूप का आकलन होता है जबकि भक्ति में श्रद्धा द्वारा उसका ग्रहण किया जाता है। अन्ततः इस भेद का विलय हो जाता है क्योंकि स्वाहंता चमत्कार जो ज्ञान का चरम प्राप्य है वही भक्ति की अन्तिम सीमा भी है। किन्तु ज्ञान के उपरान्त होने वाली भक्ति भक्तिप्रवण चित्त में ही उदित होती है ज्ञानप्रवण बुद्धि में नहीं। इस भक्ति से जो आस्वादात्मक बोध जन्म लेता है वह ज्ञान का ही आवरणभंगजनित समुन्मेष है। कबीर दर्शन में भक्ति और

ज्ञान का समन्वय देखने को मिलता है। इतिहासकारों ने कबीर को भक्ति काल की ज्ञानाश्रयी शाखा के अन्तर्गत स्थान दिया है। इसलिए भक्ति और ज्ञान का अनोखा संगम दृष्टिगोचर होता है। वस्तुतः कबीर के लिए ज्ञान–साधना, योग–साधना और भक्ति साधना में कोई अन्तर नहीं था। उनके लिए ज्ञान–साधना का अर्थ माया से मुक्त होकर आत्मराम को पहचानना है। ज्ञान भ्रम, माया, दुविधा, मोह, तृष्णा आदि को समाप्त कर सत्य की प्रतीति करा देता है।[49] कबीर दर्शन में भक्ति की विशेषता यह है कि वह ज्ञान और योग से पूर्ण है। कबीर भक्त को ऐसा बनाना चाहते हैं जिसमें एक तत्त्वज्ञानी और योगी के गुणों का समन्वय हो। यद्यपि निर्गुण निराकार ब्रह्म ज्ञान का विषय होता है तथापि कबीर दर्शन में इस भक्ति का विषय बनाया गया है इसलिए यहां भक्ति और ज्ञान दोनों वर्णित हैं।

इस प्रकार काश्मीर शैवदर्शन और कबीर दर्शन में भक्ति की अद्वैतता स्पष्ट रूप में दृष्टिगोचर होती है। अभिनवगुप्त ने भक्ति की जिस धारा का कथन किया वैसा ही कबीर भी करते दृष्टिगोचर होते हैं। शैवदर्शन भक्ति तत्त्व को भी दार्शनिक दृष्टि देनें में सफल है यद्यपि यह स्वीकारा गया है कि भक्ति एक संवेगात्म अनुभूति है, दार्शनिक नही, तथापि यह दार्शनिक लक्ष्यों को स्वीकार कर ही प्रवृत्त होती है। इसलिए इसे अंशतः दार्शनिक भी कहा जा सकता है। कबीर दर्शन में तो भक्ति ही ज्ञान व योग से समन्वित होने के कारण दार्शनिक ही है। इसलिए कबीर भी भक्ति का प्रतिपादन दोनों ही रूप में करते हैं– संवेगात्मक अथवा रागात्मक अनुभूति और दार्शनिक अनुभूति। अतः यह कहा जा सकता है भक्ति विषयक विवेचन में कबीर को अभिनवगुप्त के निकट पाया जाता है जो भारतीय परंपरा में ज्ञान की क्रमबद्धता को विवेचित करता है।

सन्दर्भ–

1. शब्दकल्पद्रुम भा. 3 पृ. 463–464, वाचस्पत्यम् भा. 6 पृ. 4625–4628
2. यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्था प्रकाशन्ते महात्मनः । श्वे. उप. 6/23
3. श्रद्धावान लभते ज्ञानम् .....। श्रीमद्भागवतगीता
4. ज्ञानस्य परमा भूमिः योगस्य परमा दशा। त्वद्भक्तिर्या विभो कर्हि पूर्णा में स्यात् तदर्शिता।।
शिवस्तोत्रावली– 9/9
5. सा (भक्तिः) परानुरक्तिरीश्वरे । शाण्डिल्यसूत्र–2, सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा । नारदभक्तिसूत्र– 2
6. अहेतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरूषोत्तमे। भागवतपुराण– 3/29/12
7. महात्म्य ज्ञान पूर्वस्तु सुदृढ़ सर्वतोधिकाः। स्नेहाभक्तिरिति प्रोक्तस्वयासु कीर्तनान्यथा।। महाभारत तात्पर्य निर्णय– 1/86/107
8. योगसूत्र–2/7
9. शब्दकल्पद्रुम भा. 3 पृ. 463–464
10. विशिष्टाद्वैतकोश पृ. 65
11. श्रीभगवद्भक्तिरसायन श्लो. 3
12. गीता– 10/16
13. प्रह्वता च उक्तरूपा भगवत्स्वरूपोत्कर्षदर्शनेन
तदिच्छावशाविशीर्णशरीरप्राणादिकल्पितप्रमातृभावनासंस्कारात्मकशेषवृत्तिसंभवे व्युत्थानसमयसंभाव्यमानस्य शरीरादिगतप्रमातृताभिमानोद्रेकस्य अपासनेन मायाप्रमात्रभिमानतिरेकन्यग्भावितसंविदात्मस्वरूपताया उन्मग्नतात्मकः समावेशः। ई.प्र.वि.वि. भा. 1 पृ.7

14. तेन मनोवागात्मकं यदविभक्तं संविच्छक्तेः, तदेव अर्पयता भक्तेन विश्वमर्पितं भगवति भवतीति। ततस्तु तन्नान्तरीकत्वादेव शरीरधनदारादीनामपि तत्र अर्पणं जायते इति पूजनहवनशिरोविमनाष्टांगप्रणिपातनादि तदनुमानहेतुतया उपचारात्प्रणाम इति व्यवह्रियते न मुख्यतया। वही– पृ.21–22

15. तद्भावं तदास्वादलाभेन तदावेशवैवश्यं गतं मानसमेषामिति भक्तेः स्वरूपमुक्तम्। अलब्धतदास्वादस्यापि तु तत्र प्राप्तिग्रह श्रद्धेति। तदाहुः – ''श्रद्धाफलं भक्तिरुक्ता तद्विना नासितुं घटः। वही– पृ.27

16.ऐश्वर्यमयी महेश्वरसमावेशरूपा या प्रकृष्टा भक्तिः फलांगिभावभागिभवानीवल्लभभम्त्यन्तरविलक्षणा विवक्षिता सा लक्ष्मी शब्देन संपत्पदेन च समस्तेत्यस्य दास्यविशेषणतासूचनेन निर्दिष्टा। वही– पृ.28

17. तंत्रालोक आ. 37/85

18. दासधाम्नि विनियोजितोऽप्यहं, स्वेच्छयैव परमेश्वर त्वया। दर्शनेन न किमस्मि पात्रितः पादसंवहनकर्मणापि वा। शिवस्तोत्रावली– 13/10

19. न घ्यायतो न जपतः स्याद्यस्याविधिपूर्वकम्। एकमेव शिवाभासस्तं नुमो भक्तिशालिनम्। वही– 1/1

20. वही– 1/16

21. वही 1/12

22. वही– 1/16

23. योगिभ्यो भक्तिभाजां यद् व्युत्थानेऽपि समाहिताः । वही– 1/17

24. न योगो न तपो नार्चाक्रमः कोऽपि प्रणीयते। अमाये शिवमार्गेऽस्मिन् भक्तिरेका प्रशस्यते।। वही–1/18

25. शिव इत्येकशब्दस्य जिह्वाग्रे तिष्ठतः सदा। समस्तविषयास्वादो भक्तेष्वेवास्ति कोऽप्यहो। वही– 1/20

26. अणिमादिषु मोक्षान्तेष्वंगेष्वेव फलाभिधा। भवद्भक्तेर्विपक्वाया लताया इव केषुचित्। वही– 1/25

27. शिवस्तोत्रावली– 13/10

28. त्रिमलक्षालिनो ग्रन्थाः सन्ति तत्पारगास्तथा। योगिनः पण्डिताः स्वस्थास्त्वद्भक्ता एव तत्त्वतः।। वही– 15/01

29. ध्यातमात्रमुपतिष्ठत एव त्वद्यपुर्वरद भक्तिधनानाम्। अप्यचिन्त्यमखिलाद्भुतचिन्ताकर्तृतां प्रति च ते विजयन्ते।। वही– 20/19

30. भक्ति विमुख जो धरम ताहि अधरम करि गायो। जोग जग्य ब्रत दान सकल करि तुच्छ लखायो। भक्तमाल छप्पय–60

31. एकल चिंता राषु अनंता, अउर तजहु सब आसा रे। प्रणवै नामा भए निहकामा, को ठाकुर को दासा रे। संतकाव्य– पृ.145 ले. श्री परशुराम चतुर्वेदी

32. कबीर जिहि घटि प्रीत न प्रेम रस फुनि रसना नाहीं राम। ते नर आइ संसार में, उपजि खये बेकाम।। क.ग्र. साखी 17 पृ.9

33. मन कर्म वचन न हरि भज्या, अंकुर बीज नसाई। क.ग्र. पृ. 244

34. भक्ति नसैनी मुक्ति की संत चढ़े सब धाय। साखी ग्रंथ भक्ति का अंग– 14

35. कामी क्रोधी लालची इनसे भक्ति न होय। भक्ति करे कोई सूरमा जाति वरण कुल खोय।। सा.ग्र. भक्ति का अंग– 34

36.एक 'जुगति' एकै मिलै, किंवा जोग कि भोग। इन दून्यूं फल पाइये, रामनाम सिधि जोग रे।। प्रेम भगति ऐसी कीजिए मुखि अमृत वरिषै चंद। आप ही आप विचारिए तब केता होइ अनंद रे।। क.ग्र. – पद 5 पृ.143

37. मैमंता मन मारि रे नान्हा करि करि पीसि। तब सुख पावै सुन्दरी ब्रह्म झलक्कै सीसि।। वही– साखी 20, पृ. 52
38. जदपि रह्या सकल घट पूरि। भाव विना अभिअंतरि दूरी।। क.ग्र. द्रुपदी रमैनी– 4 पृ. 392
39. निरगुण राम निरगुण राम जपहु रे भाई। अविगत की गति लखी न जाई।। क.ग्र. पृ.104
40. अविगत अपरम्पार ब्रह्म ग्यान रूप सब ठाम। वही– पृ.241
41. जब तक भगति सकामता, तब तक निष्फल सेव। कहै कबीर वै क्यूं मिलै, निहकामी निज देव।। वही– पृ.19
42.भक्त आप भगवान है, जानत नाहिं अयान।। साखी ग्रंथ– भक्ति का अंग– 55
43.द्वैतभक्तरद्वैतभक्तेश्च शिवप्राप्तिर्भवत्येव किन्त्वद्वैतभक्तिः सद्यः समावेशमयी द्वैतभक्तिस्त्वतथात्वाच्छिवताकांक्षामयी। शिवस्तोत्रावली विवृति पृ.257
44.कबीर राम मैं राम कहु, कहबै मांहि विवेक। एक अनेकै मिलि गया, एक समाना एक।। क.ग्र. पृ. 259
45.तंत्रालोक– 13/117, पृ.486
46. अनपेक्ष्य शिवे भक्तिः शक्तिपातोऽफलार्थिनाम। या फलार्थितया भक्तिः सा कर्माद्यमपेक्षते।। ततोऽत्र स्यात्फले भेदों नापवर्गे त्वसौ तथा।। तं.आ. 13/117–118
47. आरत ह्वै गुरू भक्ति भक्ति करु सब कारज सिद्ध होय । करम जाल भौजाल में भक्त फसै नहिं कोय।। साखी ग्रंथ, भक्ति का अंग–40
48. दासातन हिरदै बसै, साधुन सों आधीन। कहैं कबिर सो दास है, प्रेम भक्ति लौ लीन।। साखी ग्रंथ, दासातन का अंग–11
49. संतो भाई आई ग्यान की आंधी रे। भ्रम की टाटी सर्ब उड़ानी माया रहै न बांधी रे।। दुचिते की दोइ थूंनि गिरानी मोह वलेंडा टूटा। त्रिसना छांनि परी धर उपरि दूरमति भांडा फूटा।। क.ग्र. (पारसनाथ तिवारी) पद 52 पृ. 30